पंडित महेन्द्रकुमार न्यायाचार्यके द्वारा संपादित एवं अनूदित 'षड्दर्शनसमुच्चय' की समीक्षा

• डॉ० सागरमल जैन, वाराणसी

पं० महेन्द्रकुमारजी 'न्यायाचार्य' के वैदुष्यको समझना हो, उनकी प्रतिभा एवं व्यक्तित्वका मूल्यांकन करना हो तो हमें उनकी सम्पादित एवं अनूदित कृतियोंका अवलोकन करना होगा। जिनमें एक समदर्शी आचार्य हरिभद्रका 'षड्दर्शनसमुच्चय' और उसकी गुणरत्नकी टीकाका सम्पादन-अनुवाद है। उनकी यह कृति भारतीय ज्ञानपीठ, काशी (वर्तमानमें देहली) से सन् १९६९ में उनके स्वर्गवासके दस वर्ष पश्चात् प्रकाशित हुई है। उनकी इस कृति पर उनके अभिन्न मित्र एवं साथीकी विस्तृत भूमिका है। प्रस्तुत समीक्षामें मैंने उन पक्षों पर जिनपर पं० दलसुखभाईकी भूमिकामें उल्लेख हुआ है, चर्चा नहीं करते हुए मुख्यतः उनकी अनुवाद शैलीको ही समीक्षाका आधार बनाया है।

यदि हम भारतीय दर्शनके इतिहास में सभी प्रमुख दर्शनोंके सिद्धान्तोंको एक ही ग्रन्थमें पूरी प्रामाणिकताके साथ प्रस्तुत करने हेतु किए गये प्रयत्नोंको देखते हैं तो हमारी दृष्टिमें हरिभद्र ही वे प्रथम व्यक्ति हैं जिन्होंने अपने समयके सभी प्रमुख सभी भारतीय दर्शनोंको निष्पक्ष रूपसे एक ही ग्रन्थमें प्रस्तुत किया है। हरिभद्रके 'षड्दर्शनसमुच्चय' की कोटिका कोई अन्य दर्शन संग्राहक प्राचीन ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता है। यद्यपि हरिभद्रके पूर्व और हरिभद्रके पश्चात् भी अपने-अपने ग्रन्थोंमें विविध दार्शनिक सिद्धान्तोंको प्रस्तुत करनेका कार्य अनेक जैन एवं जैनेतर आचार्योंने किया है, किन्तु उन सबका उद्देश्य अन्य दर्शनोंकी समीक्षा कर अपने दर्शनकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन करना ही रहा है। चाहे फिर वह मल्लवादीका द्वादशार-नयचक्र हो या शंकरका सर्वसिद्धान्तसंग्रह हो या मध्वाचार्यका सर्वदर्शनसंग्रह हो। इन ग्रन्थोंमें पूर्वदर्शनका उन्हीं दर्शनोंके द्वारा निराकरण करते हुए अंतमें अपने सिद्धान्तकी सर्वोपरिता या श्रेष्ठताकी स्थापना की गई है। इसी प्रकारका एक प्रयत्न जैनदर्शनमें हरिभद्रके लगभग तीन वर्ष पूर्व पाँचवीं शताब्दीमें मल्लवादीके नयचक्रमें भी देखा जाता है। उसमें भी एकदर्शनके द्वारा दूसरे दर्शनका खण्डन कराते हुए अन्तिम दर्शनका खण्डन प्रथम दर्शनसे करवाकर एक चक्रकी स्थापना की गई है। यद्यपि नयचक्र स्पष्टरूपसे जैनदर्शनकी सर्वोपरिताको प्रस्तुत नहीं करता किन्तु उसकी दृष्टि भी स्वपक्ष अर्थात् अनेकान्तवादके मण्डन और परपक्षके खण्डनकी ही रही है। यही स्थिति सर्वसिद्धान्तसंग्रह और सर्वदर्शनसंग्रहकी भी है। उनमें भी स्वपक्षके मण्डनकी प्रवृत्ति रही है। अतः वे जैन दार्शनिक हों या जैनेतर दार्शनिक, सभीके दर्शन संग्राहक ग्रन्थोंमें मूल उद्देश्य तो अपने दर्शनकी सर्वोपरिताकी प्रतिस्थापना ही रही है। हरिभद्रके षड्दर्शनसमुच्चयकी जो विशेषता है वह जैन और जैनेतर परम्पराके अन्यदर्शन संग्राहक ग्रंथोंमें नहीं मिलती। यह हरिभद्रकी उदार और व्यापक दृष्टि थी, जिसके कारण उनके द्वारा सम्प्रदायनिरपेक्ष षड्दर्शनसमुच्चयकी रचना हो पाई। उनके षड्दर्शनसमुच्चय और शास्त्रवार्तासमुच्चय इन दोनोंमें अन्य दर्शनोंके प्रति पूर्ण प्रामाणिकता और आदरका तत्त्व देखा जाता है। उन्होंने षड्दर्शनसमुच्च में अन्य दर्शनोंको अपने यथार्थरूपमें प्रस्तुत किया है।

हरिभद्रके इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ पर गुणरत्नसूरिकृत टीका है। किन्तु ज्ञातव्य है कि टीकामें

उस उदार दृष्टिका निर्वाह नहीं देखा जाता जो मूल ग्रन्थकार की है क्योंकि टीकामें चतुर्थ अधिकारमें जैनमतके प्रस्तुतीकरणके साथ अन्य मतोंकी समीक्षा भी की गई है जब कि हरिभद्रकी कारिकाओंमें इस प्रकारका कोई भी संकेत नहीं मिलता है। इस टीकामें जैनदर्शनकी प्रतिस्थापनाका प्रयत्न अतिविस्तारसे हुआ। टीकाका आधे से अधिक भाग तो मात्र जैनदर्शनसे सम्बन्धित है, अतः टीकाके विवेचनमें वह सन्तुलन नहीं है जो हरिभद्रके मूल ग्रन्थमें है।

हरिभद्रका यह मूलग्रन्थ और उसकी टीका यद्यपि अनेक भंडारोंमें हस्तप्रतियोंके रूपमें उपलब्ध थे किन्तु जहाँ तक हमारी जानकारी है गुजराती टीकाके साथ हरिभद्रके षड्दर्शनसमुच्चयका सर्वप्रथम प्रकाशन एसियाटिक सोसायटी, कलकत्तासे १९०५ में हुआ था। इसी प्रकार मणिभद्रकी लघुवृत्तिके साथ इसका प्रकाशन चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसीके द्वारा १९२० में हुआ। इस प्रकार षड्दर्शनसमुच्चय मूलका-टीकाके साथ प्रकाशन उसके पूर्व भी हुआ था किन्तु वैज्ञानिक रीतिसे सम्पादन और हिन्दी अनुवाद अपेक्षित था। इस ग्रंथका वैज्ञानिक रीतिसे सम्पादन और हिन्दी अनुवादका यह महत्त्वपूर्ण कार्य पंडित महेन्द्रकुमार न्यायाचार्यके द्वारा किया गया। सम्भवतः उनके पूर्व और उनके पश्चात् भी इस ग्रन्थका ऐसा अन्य कोई प्रामाणिक संस्करण आज तक नहीं प्रकाशित हो पाया है।

अनेक प्रतियोंसे पाठोंका मिलान करके और जिस ढंगसे मूलग्रन्थको सम्पादित किया गया था वह निश्चित ही एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण कार्य रहा होगा जिसमें पंडितजी को अनेक कष्ट उठाने पड़े होंगे। दुर्भाग्यसे इस ग्रन्थ पर उनकी अपनी भूमिका न हो पानेके कारण हम यह नहीं समझ पा रहे हैं कि मूल प्रतियोंको प्राप्त करके अथवा एक प्रकाशित संस्करणके आधार पर इस ग्रन्थको सम्पादित करनेमें किन-किन कठिनाइयोंका सामना करना पड़ा होगा। इस ग्रन्थके संदर्भमें अपने पांडुलिपिसे जो सूचना मिलती है इससे मात्र इतना ज्ञात होता है कि उन्होंने षड्दर्शनसमुच्चय मूल और गुणरत्न टीकाका अनुवाद २५/६।४० को ४ बजे पूर्ण किया था किन्तु उनके संशोधन उसपर टिप्पण लिखनेका कार्य वे अपनी मृत्यु जून १९५९ के पूर्व तक करते रहे। इससे यह स्पष्ट पता चलता है कि उन्होंने इस ग्रन्थको अन्तिम रूप देनेमें पर्याप्त परिश्रम किया है। खेद तो यह भी है कि वे अपने जीवनकालमें न तो इसकी भूमिका लिख पाए न इसे प्रकाशित रूपमें ही देख पाये।

भारतीय ज्ञानपीठसे प्रकाशित होकर यह ग्रन्थ जिस रूपमें हमारे सामने आया और उनके श्रम एवं उनकी प्रतिभाका अनुमान किया जा सकता है। यह तो एक सुनिश्चित तथ्य है कि संस्कृतकी अधिकांश टीकाएँ मूलग्रन्थसे भी अधिक दुष्कर हो जाती हैं और उन्हें पढ़कर समझ पाना मूलग्रन्थकी अपेक्षा भी कठिन होता है। अनेक संस्कृत ग्रन्थोंकी टीकाओं विशेषरूपसे जैनदर्शनसे सम्बन्धित ग्रन्थोंकी संस्कृत टीकाओंके अध्ययनसे मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि टीकाओंका अनुवाद करना अत्यन्त दुरूह कार्य है। सामान्यतया यह देखा जाता है विद्वज्जन अनुवादमें ग्रन्थके मूलशब्दोंको यथावत् रखकर अपना काम चला लेते हैं किन्तु इससे विषयकी स्पष्टतामें कठिनाई उत्पन्न होती है। 'मक्षिका स्थाने मक्षिका' रखकर अनुवाद तो किया जा सकता है किन्तु वह पाठकोंके लिए बोधगम्य और सरल नहीं होता। पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्यकी अनुवाद शैलीका यह वैशिष्टय है कि इनका अनुवाद मूलग्रन्थ और उसकी टीकाकी अपेक्षा अत्यन्त सरल और सुबोध है। दर्शनके ग्रन्थको सरल और सुबोध ढंगसे प्रस्तुत करना केवल उसी व्यक्तिके लिए संभव होता है जो उन ग्रन्थोंको आत्मसात् कर प्रस्तुतीकरणकी क्षमता रखता हो। जिसे विषय ज्ञान न हो वह चाहे कैसा ही भाषाविद हो सफल अनुवादक नहीं होता है।

अनुवादके क्षेत्रमें पं० महेन्द्रकुमारजी ने मूल टीकाकी अपेक्षा भी अर्थमें विस्तार किया है किन्तु इस विस्तारके कारण उनकी शैलीमें जो स्पष्टता और सुबोधता आई है वह निश्चय ही ग्रन्थको सरलतापूर्वक समझानेमें सहायक होती है। उदाहरणके रूपमें ईश्वरके सृष्टिकर्तृत्वकी सरल शब्दोंमें समीक्षा करते हुए वे लिखते हैं—अच्छा यह भी बताओ कि ईश्वर संसारको क्यों बनाता है ? क्या वह अपनी रुचिसे जगत्को गढ़ने बैठ जाता है ? अथवा हम लोगोंके पुण्य-पापके अधीन होकर इस जगत्की सृष्टि करता है या दयाके कारण यह जगत् बनाता है या उसने क्रीड़ाके लिए यह खेल-खिलौना बनाया है। किंवा शिष्टोंकी भलाई और दुष्टों को दण्ड देनेके लिए यह जगत्-जाल बिछाया है या उसका यह स्वभाव ही है कि वह बैठे ठाले कुछ न कुछ किया ही करे। यदि हम उनकी इस व्याख्या को मूलके साथ मिलान करके देखते हैं तो यह पाते हैं कि मूल टीका मात्र दो पंक्तियोंमें है जबकि अनुवाद विस्तृत है तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका यह अनुवाद शब्दानुसारी न होकर विषयको स्पष्ट करनेकी दृष्टिसे ही हुआ है। पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्यके इस अनुवाद शैलीकी विशेषता यह है कि वे इसमें किसी दुरूह शब्दावलीका प्रयोग न करके ऐसे शब्दों की योजना करते हैं जिससे सामान्य पाठक भी विषयको सरलतापूर्वक समझ सके। इस अनुवादसे ऐसा लगता है कि इसमें पंडितजीका उद्देश्य अपने वैदुष्य का प्रदर्शन करना नहीं है, अपितु सामान्य पाठकको विषयका बोध कराना है। यही कारण है कि उन्होंने मूल टीकासे हटकर भी विषयको स्पष्ट करनेके लिए अपने ढंगसे उदाहरण प्रस्तुत किए हैं।

पं० महेन्द्रकुमारजीके इस अनुवादकी दूसरी विशेषता यह है कि उन्होंने अपनी व्याख्यामें जनसामान्य की परिचित शब्दावलीका ही उपयोग किया है। उदाहरणके रूपमें जैनदृष्टिसे ईश्वरके सृष्टिकर्ता होनेकी समीक्षाके प्रसंगमें वे लिखते हैं कि यदि ईश्वर हम लोगोंके पाप-पुण्यके आधारपर ही जगत्की सृष्टि करता है तो उसकी स्वतन्त्रता कहाँ रही। वह काहेका ईश्वर। वह तो हमारे कर्मोंके हुकुमको बजानेवाला एक मैनेजर सरीखा ही हुआ। यदि ईश्वर कृपा करके इस जगत्को रचता है तो संसारमें कोई दुःखी प्राणी नहीं रहना चाहिए, खुशहाल और सुखी ही सुखी उत्पन्न हो। इस शब्दावलीमें हम स्पष्ट अनुमान कर सकते हैं कि पंडितजीने दर्शन जैसे दुरूह विषयको कितना सरस और सुबोध बना दिया है। यह कार्य सामान्य पंडित का नहीं अपितु एक अधिकारी विद्वान् का ही हो सकता है।

वस्तुतः यदि इसे अनुवाद कहना हो तो मात्र इस प्रकारका कहा जा सकता है कि उन्होंने टीकाके मूल तर्कों और विषयोंका अनुसरण किया है किन्तु यथार्थमें तो यह टीकापर आधारित एक स्वतन्त्र व्याख्या ही है। दर्शन जैसे दुरूह विषयके तार्किक ग्रन्थोंकी ऐसी सरल और सुबोध व्याख्या हमें अत्यन्त कम ही देखने को मिलती है। यह उनकी लेखनीका ही कमाल है कि वे बात-बातमें ही दर्शनकी दुरूह समस्याओंको हल कर देते हैं। हरिभद्रके ही एक ग्रन्थ शास्त्रवार्तासमुच्चयकी टीका अनुवाद सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालयके पूर्व कुलपति स्व० पं० बद्रीनाथ शुक्लने किया है किन्तु उनका यह अनुवाद इतना जटिल है कि अनुवादकी अपेक्षा मूलग्रन्थसे विषयको समझ लेना अधिक आसान है। यही स्थिति प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, अष्टसहस्री आदि जैनदार्शनिक ग्रन्थोंके हिन्दी अनुवाद की है। वस्तुतः किसी व्यक्तिका वैदुष्य इस बात में नहीं झलकता कि पाठकको विषय अस्पष्ट बना रहे, वैदुष्य तो इसीमें है कि पाठक ग्रन्थको सहज और सरल रूपमें समझ सके। पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्यकी यही एक ऐसी विशेषता उन्हें उन विद्वानोंकी उस कोटिमें लाकर खड़ी कर देती है जो गम्भीर विषयको भी स्पष्टताके साथ समझने और समझानेमें सक्षम हैं।

सामान्यतया संस्कृतके ग्रन्थोंके व्याख्याताओं या अनुवादकोंको यह समझनेमें एक कठिनाई यह होती

है कि मूलग्रन्थ या टीकाओंमें पूर्वपक्ष कहाँ समाप्त होता है और उत्तरपक्ष कहाँसे प्रारम्भ होता है किन्तु पं० महेन्द्रकुमारजीने अपने अनुवादमें ईश्वरवादी जैन अथवा शंका-समाधान ऐसे छोटे-छोटे शीर्षक देकरके बहुत ही स्पष्टताके साथ पूर्वपक्ष और उत्तरपक्षको अलग-अलग रख दिया ताकि पाठक दोनों पक्षोंको अलग-अलग ढंगसे समझ सके।

भाषाकी दृष्टिसे पंडितजीके अनुवादकी भाषा अत्यन्त सरल है। उन्होंने दुरूह संस्कृतनिष्ठ वाक्यों की अपेक्षा जनसाधारणमें प्रचलित शब्दावलीका ही प्रयोग किया है। यही नहीं, यथास्थान उर्दू और अंग्रेजी शब्दोंका भी निःसंकोच प्रयोग किया है। उनके अनुवादमें प्रयुक्त कुछ पदावलियों और शब्दोंका प्रयोग देखें—"यह जगत् जाल बिछाया है।" "कर्मोंके हुकुमको बजानेवाला मैनेजर"; "बैठे-ठाले"; "हाइड्रोजन में जब आक्सीजन" अमुक मात्रामें मिलता है तो स्वभावसे ही जल बन जाता है; "इसके बीचके ऐजेन्ट ईश्वर की क्या आवश्यकता है", बिना जोते हुए अपनेसे ही उगनेवाली जंगली घास; "प्रत्यक्षसे कर्ताका अभाव निश्चित है।" (देखें पृ० १०२-१०३) आदि। वस्तुतः ऐसी शब्द योजना सामान्य पाठकके लिए विषयको समझनेमें अधिक कारगर होती है।

जहाँ तक पं० महेन्द्रकुमारजीके वैदुष्यका प्रश्न है, इस ग्रन्थको व्याख्यासे वह अपने आप ही स्पष्ट हो जाता है क्योंकि जब तक व्यक्ति षड्दर्शनों एवं मात्र इतना ही नहीं उनके पूर्वपक्ष और उत्तरपक्षका सम्यक् ज्ञाता न हो तब तक वह उनकी टीका नहीं लिख सकता। यद्यपि प्रस्तुत टीकामें जैनदर्शनके पूर्वपक्ष एवं पूर्वपक्षको विस्तार दिया है किन्तु अन्य दर्शनोंके भी पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष तो अपनी जगह उपस्थित हुए ही हैं। अतः षड्दर्शनसमुच्चय जैसे ग्रन्थकी टीकापर एक नवीन व्याख्या लिख देना केवल उसी व्यक्तिके लिए सम्भव है जो किसी एक दर्शनका अधिकारी विद्वान् न होकर समस्त दर्शनोंका अधिकारी विद्वान् हो। पं० महेन्द्रकुमारजीकी यह प्रतिभा है कि वे इस ग्रन्थकी सरल और सहज हिन्दी व्याख्या कर सके। दार्शनिक जगत् उनके इस अवदानको कभी भी नहीं भुला पाएगा। वस्तुतः उनका यह अनुवाद, अनुवाद न होकर एक स्वतन्त्र व्याख्या ही है।

उनकी वैज्ञानिक सम्पादन पद्धतिका यह प्रमाण है कि उन्होंने प्रत्येक विषयके संदर्भमें अनेक जैन एवं जैनेतर ग्रन्थोंसे प्रमाण प्रस्तुत किए हैं। संदर्भ ग्रन्थोंकी यह संख्या सम्भवतः सौसे भी अधिक होगी जिनके प्रमाण टिप्पणीके रूपमें तुलना अथवा पक्ष समर्थनकी दृष्टिसे प्रस्तुत किए गए हैं। ये टिप्पण पं० महेन्द्रकुमारजीके व्यापक एवं बहुमुखी प्रतिभाके परिचायक हैं। यदि उन्हें इन सब ग्रन्थोंका विस्तृत अवबोध नहीं होता तो यह सम्भव नहीं था कि वे इन सब ग्रन्थोंसे टिप्पण दे पाते। परिशिष्टोंके रूपमें षड्दर्शनसमुच्चयकी मणिभद्रकृत लघुवृत्ति, अज्ञातकर्तृक अवचूर्णिके साथ-साथ कारिका, शब्दानुक्रमिका, उद्धृत वाक्य, अनुक्रमणिका, संकेत विवरण आदिसे यह स्पष्ट हो जाता है कि पं० महेन्द्रकुमारजी केवल परम्परागत विद्वान् ही नहीं थे अपितु वे वैज्ञानिक रीतिसे सम्पादन-कलामें भी निष्णात थे। वस्तुतः उनकी प्रतिभा बहुमुखी और बहुआयामी थी, जिसका आकलन उनकी कृतियोंके सम्यक् अनुशीलनमें ही पूर्ण हो सकता है। षड्दर्शनसमुच्चय की गुणरत्नकी टीकापर उनकी यह हिन्दी व्याख्या वस्तुतः भारतीय दर्शन जगत्को उनका महत्त्वपूर्ण अवदान है जिसके लिए वे विद्वज्जगत्में सदैव स्मरण किये जाते रहेंगे।

◆